वर्ष 8, अंक 3

ISSN 2456-3838

पिक्चर प्लस

ज़िन्दगी का बायस्कोप

नवंबर-दिसंबर 2024 ₹ 70

सिनेमा के 'रत्न'

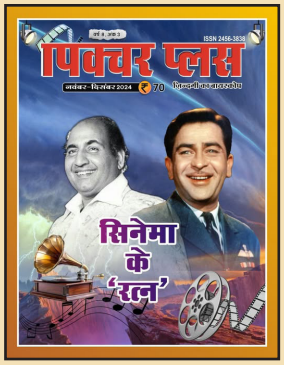

ISSN : 2456-3838
Licence No. F2 (P19) PRESS 2016

पिक्चर प्लस
वर्ष 8 अंक 3; नवंबर-दिसंबर, 2024
(मासिक/द्विभाषिक हिंदी-अंग्रेजी)

संपादक
संजीव श्रीवास्तव

संपादन सहयोग
कल्पना कुमारी

कवर डिजाइन
ज़ाहिद मोहम्मद खान

लेआउट डिजाइन : शाश्वती

पंजीकृत पता
37/ए, गली नंबर 2,
प्रताप नगर, मयूर विहार, फेज-1
दिल्ली-110091

मूल्य- 70 रुपये (एक प्रति)
वार्षिक - 1,000 रुपये (व्यक्तिगत)
5,000 रुपये (संस्थागत)

आप डिजिटल संस्करण को नॉटनल (www.notnul.com) से ख़रीद सकते हैं।

संपर्क : 9313677771
ईमेल : pictureplus2016@gmail.com

नोट : सभी रचनाओं में व्यक्त विचारों से पत्रिका की संपादकीय नीति तथा लेखक-प्रकाशक की सहमति आवश्यक नहीं। पत्रिका के किसी भी पक्ष से संबंधित कानूनी निपटारे का न्यायिक क्षेत्र दिल्ली होगा।

(सभी चित्र इंटरनेट से साभार)
सभी पद अवैतनिक

अनुक्रम

04 संपादकीय : चलती का नाम गाड़ी :अल्पविराम है अंत नहीं!
कवर स्टोरी: सिनेमा के रत्न
06 अरविंद कुमार :राज कपूर देह और शैलेन्द्र उनकी आत्मा
09 ख्वाजा अहमद अब्बास : ये लघु फिल्में आप क्यों बना रहे हैं?
13 जयनारायण प्रसाद: शोमैन और सिटी ऑफ जॉय
17 विवेक शुक्ला : राजकपूर के लिए क्यों 'दिल्ली दूर नहीं' रही?
19 ज़ाहिद ख़ान: मोहम्मद रफ़ी 'भारत रत्न' क्यों नहीं?
23 मुजफ्फर अली : राज-देव-दिलीप सिनेमा के रत्न
24 सईद अख्तर मिर्जा : नोबेल प्राइज का भी पैमाना नहीं रहा
25 नितीश राय: आज श्याम बेनेगल का नाम सबसे ऊपर
26 रिंकी रॉय भट्टाचार्य : बिमल रॉय की ओर ध्यान नहीं दिया गया
28 दिनेश शैलेंद्र: शैलेन्द्र को पद्म सम्मान भी नहीं मिला
29 त्रिनेत्र बाजपेई : देविका रानी को भी भुला दिया गया
31 डॉ. सागर : शैलेन्द्र-साहिर-मजरूह को भी करें याद
33 सुनील आनंद: देव साहेब को मिले यह सम्मान
34 पिआ बेनेगल: मेरे पिता भारत रत्न के सच्चे हकदार
35 अनीस बज्मी : दिलीप कुमार के नाम पर हो विचार
36 प्रीता माथुर : रंगमंच हमेशा नजरअंदाज हुआ
38 अजय ब्रह्मात्मज: फिल्मी हस्तियों को भी मिले भारत रत्न
39 दिलीप कुमार पाठक : भारत रत्न सम्मान से वंचित क्यों सिनेमा की विभूतियां?
42 संजीव श्रीवास्तव : पुष्पा की पीड़ा श्रीवल्ली ही समझती है (नई फिल्म)
44 डॉ. सुजाता मिश्रा : दो पत्ती : स्त्री जीवन के पक्ष (नई फिल्म)
46 अजय कुमार शर्मा :दास्तान-ए-रफ़ी (पुस्तक प्लस)
48 कथा-पटकथा: चरणसिंह अमी: उनहार
56 Global Screen: Why Does Tamil Cinema Turn Mothers Into Martyrs?

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक संजीव श्रीवास्तव द्वारा 37-ए, गली नं. 2, प्रताप नगर मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली–110091 से प्रकाशित। संपादक-संजीव श्रीवास्तव। चंद्रशेखर प्रिंटर्स, WZ/439/नारायणा विलेज, नई दिल्ली-110026 से मुद्रित।

अल्पविराम है अंत नहीं!

पत्रिका निकालना और चलाना मुश्किल काम बिल्कुल नहीं है। आज भी तमाम अच्छी-अच्छी पत्रिकाएं छप रही हैं। भले ही कोई साल भर चलती है या दो-तीन साल निकलती है। अगर यह काम कठिन होता तो कोई भी शख्स साल, दो साल भी अपनी पत्रिका कैसे निकाल पाता! वास्तव में पत्रिका निकालने से ज्यादा मुश्किल है पत्रिका खरीदना और पढ़ना। पत्रिकाएं निकलती तो बहुत हैं लेकिन ईमानदारी से बताएं हम उनमें से कितनी पढ़ते हैं और खरीदते हैं! पत्रिका निकालने का मकसद ही होता है कि लेखक-पाठक उससे जुड़ें, उसे खरीदें, उसे पढ़ें और उस पर अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करें। यही सालों पुरानी परंपरा रही है। आज भी यह पैमाना बदला नहीं है। हां, नये माध्यमों का अवतरण हुआ है। उसकी अपनी प्रसार गति है तो उतनी ही तेजी से गुम हो जाने की फितरत भी है। लेकिन पत्रिकाओं के संग्रहणीय अंक कभी काल कवलित नहीं होते। अंधेरे में रोशनी देते हैं और इतिहास को नजरिया भी प्रदान करते हैं। नये माध्यमों से पत्र-पत्रिकाओं की पठनीयता पर उतना असर नहीं हुआ, जितना बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाता है। बल्कि कुछ के तो कारोबार बढ़ गए हैं। यह प्रवृति हार मान लेने वाली बात लगती है। उदाहरणस्वरूप बड़े व्यावसायिक मीडिया घरानों ने घाटे की घोषणा करके पत्रिकाएं बंद कीं, लेकिन बहुत से सुधि विद्वान बखूबी जानते हैं, यह आधा अधूरा सच है। किसी भी घराने की कोई भी पत्रिका घाटे की वजह से कभी बंद नहीं हुई। यह दावे के साथ कहा जा सकता है। बड़े घरानों की पत्रिकाएं बंद हुईं, अपेक्षाकृत कम विजन के प्रबंधक और संपादक के बढ़ते प्रभाव की वजह से। वरना कम हैसियत वाले लोग पत्रिकाएं निकालने और चलाने का हौसला रख सकते हैं तो बड़े घराने सक्षम क्यों नहीं हो सकते? माधुरी, दिनमान, सरिता, धर्मयुग, गंगा, साप्ताहिक हिंदुस्तान, कादंबिनी आदि तब तक हस्तक्षेप करती रहीं, जब तक इन पत्रिकाओं के साथ विजन वाले संपादक जुड़े रहे। लेकिन जैसे ही कालजयी संपादक वहां से अलग हुए या रिटायर्ड हुए, इन पत्रिकाओं ने अपना स्वरूप खो दिया। इसके बाद नई पीढ़ी के प्रबंधकों के लिए संपादक नामक संस्था समझ से बाहर की चीज़ हो गई। लिहाजा वैसे संपादकों का रेला आने लगा जो पाठक रुचि से ज्यादा प्रबंधन हित का ख्याल रखने लगे। नए प्रबंधकों ने पत्रिकाओं को समोसे की तरह बेचना शुरू कर दिया। किस स्वाद के समोसे बने हैं, से ज्यादा कितने समौसे बिके, यह गिनती उनके लिए ज्यादा मायने रखने लगी। जिगर से ज्यादा जुबान को पसंद आने वाले उत्पाद की तरह पत्रकारिता परोसी जाने लगी। लेकिन भूल गए कि हर माध्यम का अपना-अपना नेचर होता है। अपना-अपना पाठक वर्ग होता है। डिजिटल माध्यम केवल विकल्प के लिए होते हैं, उसके पाठक भी अलग रुचि और वर्ग के हैं। लेकिन उनकी देखा-देखी पत्र-पत्रिकाओं का स्वरूप बदल देना और उसकी गति से तालमेल बिठाने की चेष्टा करना कहां तक समीचीन है? बाजारपरकता अलग उद्यम है और भेड़चाल की नकल अलग किस्म की रेस। दोनों में संतुलन भी तभी बैठाया जा सकता है जब विजन के साथ आगे बढ़ें। आज भी कई ऐसे नजीर हैं जहां आंच और अलख की उजास बाकी है।

वैसे बात केवल विजनरी संपादक तक ही सीमित नहीं हो जाती। संपादकीय विभाग का हर सदस्य भी विजनरी हो सकता है, इतिहास की क्लासिक पत्रिकाएं इसकी नजीर हैं। श्रद्धेय अरविंद कुमार जी कहा करते थे, उनके साथ दो प्रशिक्षु पत्रकार जुड़े- उनमें एक थे- विनोद तिवारी। आज विनोद तिवारी पुणे में रहते हैं। उन्होंने गुजरे जमाने की सिनेमाई दुनिया को बहुत करीब से देखा है। अरविंद कुमार कहा करते थे- विनोद शुरू से ही जिज्ञासु, मेहनती और प्रतिभाशाली

थे। फिल्मी संसार के अंदर की खबरें निकालकर लाते थे। माधुरी के पन्नों पर उनकी खबर अलग ही रुतबा प्रदान करती थी। विनोद अपनी लगन और मेहनत से धीरे-धीरे पदोन्नत होते गए और मेरे रिटायरमेंट के बाद माधुरी के संपादक की कुर्सी पर बैठे। यह संयोग बहुत ही चमत्कृत कर देने वाला है कि खुद अरविंद कुमार ने दिल्ली प्रेस में बतौर प्रूफ रीडर से शुरुआत की थी और एक दिन वहीं की पत्रिका के संपादक बने थे। अरविंद कुमार कहा करते थे- पत्रिका का प्रधान संपादक जितना प्रमुख होता है, उतना ही संपादकीय विभाग से लेकर हर विभाग का एक-एक कर्मचारी अहम होता है। संपादक अगर रीढ़ है तो सहायक संपादक उस रीढ़ की ताकत।

आज बहुत सी पत्रिकाएं हैं, जहां संपादक वन मैन शो होता है। सहायक संपादक कम ही होते हैं। जो संपादक होता है वही ले-आउट डिजाइनर, प्रूफ रीडर, उप-संपादक, प्रसार व्यवस्थापक, अकाउंटेंट और पोस्ट मैन भी होता है। ऐसी पत्रिकाएं खुद को व्यावसायिक नहीं कहतीं। केवल व्यवसाय की अपेक्षा रखती हैं। पिक्चर प्लस भी शुरू से ही कहती रही वह व्यावसायिक पत्रिका नहीं है, आज भी कहती है। लेकिन व्यवसाय की अपेक्षा बरकरार है। पत्रिका को अधिक से अधिक लेखकों, पाठकों तक पहुंचाना है तो उसे कमर्शियल न सही प्रोफेशनल तो होना चाहिए। लेकिन आज की तारीख में कमर्शियल होना उतना ही आसान है, जितना कठिन प्रोफेशनल होना है।

पिक्चर प्लस को सदैव सबका बहुत ही प्यार मिला। मार्गदर्शक मिले। पाठक मिले। लेखक मिले। फिल्मकार मिले। आर्थिक सहयोग मिला। बहुत से साथी तो सलाहकार भी बनना चाहते रहे। लेकिन औपचारिक तौर पर नाम न छपने की वजह से थोड़े खिन्न भी रहे। उनसे माफी। लेकिन इस बीच चाहकर भी कोई सहायक संपादक नहीं मिला। अगर सहायक संपादक मिला होता तो इस रीढ़ की ताकत और अधिक मजबूत होती। खैर! सबका स्नेह, आशीर्वाद, प्यार, नाराजगी मेरे सर माथे पर। अभी इतना ही कहूंगा कि यह अल्पविराम है, अंत नहीं! साल 2024 बीत रहा है। नया साल 2025 दस्तक दे रहा है।

आज की रात बचेंगे तो सहर देखेंगे...

पिक्चर प्लस फिलहाल अगले कुछ महीने तक अल्पविराम पर रहेगी। लेकिन वादा रहा कि यह अंत की घोषणा नहीं है। हां, ये याद रखिएगा तब भी जितने अहम सलाहकार संपादक होंगे, उतने ही महत्वपूर्ण सहायक संपादक भी। पिक्चर प्लस को सक्रिय, सिनेमा प्रेमी, उत्साही सहायक संपादक की खास जरूरत है।

यह अंक क्यों?

देश का सर्वोच्च नागरिक सम्मान प्राप्त गणमान्य हस्तियों की सूची पर एक नजर डालें तो कला-संस्कृति-अध्यात्म, समाज सेवा और सिनेमा के क्षेत्र में उपेक्षा दिखती है। अवधारणा 'भारत रत्न' की है तो सवाल मन में उठता है कि ज्यादा से ज्यादा राजनीतिक हस्तियों या पूर्व प्रधानमंत्रियों को ही यह सम्मान क्यों? 'भारत रत्न' के हकदार तो वे सभी होने चाहिए जिन्होंने अपनी यशोकीर्ति से राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिंदुस्तान का गौरव बढ़ाया है। प्रत्यक्ष तौर पर सिनेमा के क्षेत्र में दो दिग्गज हस्तियों मसलन सत्यजित राय (1992) और लता मंगेशकर (2001) को यह सम्मान मिल चुका है। उनके अलावा संगीत-कला के क्षेत्र में जीवनपर्यंत उच्च कोटि के योगदान के लिए पं. रविशंकर (1999,) बिस्मिल्ला खान (2001), पं. भीमसेन जोशी (2009) और भूपेन हजारिका (2019) को भी भारत रत्न मिला है। सत्यजित राय को यह सम्मान ऑस्कर की घोषणा के बाद देने का ऐलान हुआ था। अहम सवाल है यह सूची इतनी छोटी क्यों है? क्या सिनेमा जगत की हस्तियां इस योग्य नहीं हैं या सरकारों का ध्यान ही इस तरफ नहीं जा पाता? इन सवालों के आलोक में पत्रिका में कई आलेख और टिप्पणियां प्रकाशित हैं। आप भी इस संबंध में अपने विचार प्रकट करने के लिए स्वतंत्र हैं।

मित्रो, आपको यह अंक कैसा लगा, जरूर लिखें।

इसके साथ ही आप सबको नया साल 2025 की अग्रिम शुभकामनाएं। ना जाने अगले साल किस महीने से मुलाकात का सिलसिला फिर शुरू हो!

सादर।

आपका संपादक
संजीव श्रीवास्तव

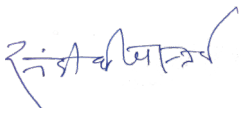

राज कपूर देह और शैलेन्द्र उनकी आत्मा

अरविंद कुमार

'माधुरी' का संपादक बन कर मैं जब 1963 में बंबई पहुंचा तो मेरी पसंद तो कई थे- पर कुल दो मेरे हीरो थे। लोककवि शैलेन्द्र और अभिनेता-निर्देशक-निर्माता राज कपूर। दोनों ने मेरी आधुनिक मानसिकता के विकास में योगदान किया था। एक पत्रकार मित्र ने मुझे मिलाया शैलेन्द्र से जो उम्र में मुझ से आठ साल बड़े थे। उन्हीं ने लिखा था– "अगर कहीं है स्वर्ग तो उतार ला ज़मीन पर", और 'आवारा' में उन्हीं का मारक गीत था– "ज़ुलम सहे भारी जनक दुलारी।" समाज की दुत्कृता नारियों के असम्मान के विरोध का गूंजता विरोध। और राज कपूर ने 'आवारा' में इसे बड़े जतन से सही सिचुएशन पर फ़िल्माया था। पहली ही मुलाक़ात में न जाने कैसे अबोले बड़े भाई बन गए। उन्होंने कहा– "राज से तुम्हें मैं मिलवाऊंगा।" अंधा क्या चाहे दो आंखें। पूछ और नेक नेक। तो दो तीन सप्ताह में समय तय कर के वह ले गए आर. के. स्टूडियो। उस दिन से आर. के. के दरवाज़े मेरे लिए हमेशा के लिए खुल गए।

अगर राज कपूर देह और दिमाग़ थे तो शैलेन्द्र उन की आत्मा थे। राज शैलेन्द्र को 'कविराज' कहते थे। जब किसी फ़िल्म की किसी सिचुएशन पर कोई गीत तत्काल लिखना हो शैलेन्द्र को कॉटेज में बैठा दिया जाता। स्टूडियो में राज के बैठने और आराम करने के लिए यह कॉटेज बनाई गई थी। मैं कभी आर.के. किसी और काम से जाता और राज फ़्री हों तो मुझे वहीं बुला लिया करते थे। कॉटेज में शैलेन्द्र जिस भी मुद्रा में हों, लेटे हों या बैठे हों, सोच रहे हों- थोड़ी थोड़ी देर में राज जासूस भेजते। कविराज ने क़लम उठाई या नहीं, कुछ लिख रहे हैं क्या? एक भी शब्द शैलेन्द्र लिखते तो राज का चेहरा खिल उठता, शंकर या जयकिशन सजग हो जाते।

यह जो राज और शैलेन्द्र का संगम था, उस ने कई अमर फ़िल्मों और गीतों को जन्म दिया। इस लेख में मैं बस दोनों की दो अपनी

फ़िल्मों के बारे में लिखूंगा। 'श्री 420' में शैलेन्द्र से उबरते, निर्धन, संघर्ष करते, आगे बढ़ते भारत की आत्मा का गीत लिखवाया गया- "मेरा जूता है जापानी" जिसे गायक मुकेश ने आवाज़ दी। वह भारत सारी दुनिया से कुछ न कुछ ले रहा था। जापान से सस्ते जूते, इंगलैंड से पहनावा, रूस से क्रांति का संदेश पर पूरी तरह देसी था। अपना भविष्य बनाने के लिए वह सीना तान कर निकल कर खुली सड़क पर निकल पड़ा है। उस के दिल में तूफ़ानी इरादे हैं। जो तटस्थ बैठे हैं वे नादान लोग बस राह पूछ रहे हैं। जो सड़क पर निकल पड़े हैं वे बिगड़े दिल शहज़ादे हैं जो एक न एक दिन सिंहासन पर जा विराजेंगे। इस प्रकार 1955 में बनी यह फ़िल्म हमारे देश की कशमकश की प्रतीक बन गई। (यह हमारी पंच-वार्षिक योजनाओं के आरंभ होने का काल था।)

इसी फ़िल्म में शैलेन्द्र ने अपने कवित्व की परिभाषा इन शब्दों में की थी - "सीधी सी बात न मिर्च मसाला, कह के रहेगा कहने वाला।"

राज और शैलेन्द्र के संगम के सिलसिले में आर.के. की एक और फ़िल्म 'आवारा' की बात कर यह लेख समाप्त करूंगा। लेकिन 'आवारा' से पहले इन दोनों की मुलाक़ात कैसे हुई–यह बताता हूं।

किसी कवि सम्मेलन में राज कपूर ने शैलेन्द्र की कविता सुनी – "जलता है पंजाब"। तत्काल उन से संपर्क किया, लेकिन उन्होंने फ़िल्मों में लिखने से इनकार कर दिया– "मेरी कविता बिकाऊ नहीं है।" पर राज ने हार नहीं मानी। कहा – "जब चाहो मेरे स्टूडियो आ जाना।" हुआ यह कि शैलेन्द्र की पहली संतान होने वाली थी। पैसा चाहिए था। वह चले स्टूडियो की ओर। बरसात का मौसम था। दरवाज़े पर ही दोनों मिल गए, आंखें चार हुईं, चमकीं। शैलेन्द्र ने मिसरा पढ़ दिया – "तुम से मिले हम हम से मिले तुम बरसात में।" राज ने यह गीत तत्काल ख़रीद लिया फ़िल्म 'बरसात' के लिए।

'आवारा' से अगर ये तीन गीत निकाल दिए जाएं तो वह 'आवारा' नहीं रहेगी। पहला है "ज़ुलम सहे भारी जनक दुलारी।" आप ध्यान से देखें तो कथाकार-द्वय ख़्वाजा अहमद अब्बास और वी.पी. साठे ने बड़े कमाल से सीता बनवास और लवकुश की कहानी को जज रघुनाथ के घर से जोड़ दिया था। जज रघुनाथ सीता को बनवास देने वाला राम भी है और अपने अपनी पालिता बेटी नरगिस (सीता) से अपने आवारा बेटे राजू का विवाह कराने वाला बाप जनक भी है॥

जज की पत्नी लीला चिटणीस को जग्गा डाकू ने अग़वा कर लिया और चार दिन बाद छोड़ दिया। कुछ मास बाद वह गर्भवती होती है। जज साहब के मन में अंतर्द्वंद्व व्याप जाता है। भरी बरसात और कड़कती बिजली वाली रात वह लीला को घर से निकाल देता है, वह इधर उधर भटक रही है। बाज़ार में किसी दूकान के थड़े पर भक्त भजन कर रहे हैं – 'जनक दुलारी राम की प्यारी/ फिरे मारी मारी जनक दुलारी/ जुलुम सहे भारी जनक दुलारी/ गगन महल का राजा देखो/ कैसा खेल दिखाए/ सीप का मोती, गंदे जल में/ सुंदर कँवल खिलाए/ अजब तेरी लीला है गिरधारी।'

दूसरा गीत है विश्व प्रसिद्ध 'आवारा हूं' – "आवारा हूं, आवारा हूं/ या गर्दिश में हूं, आसमान का तारा हूँ/ घरबार नहीं, संसार नहीं, मुझ से किसी को प्यार नहीं..."

और जो तीसरा है वह 'आवारा' के स्वप्न दृश्य का है - नौ मिनिट

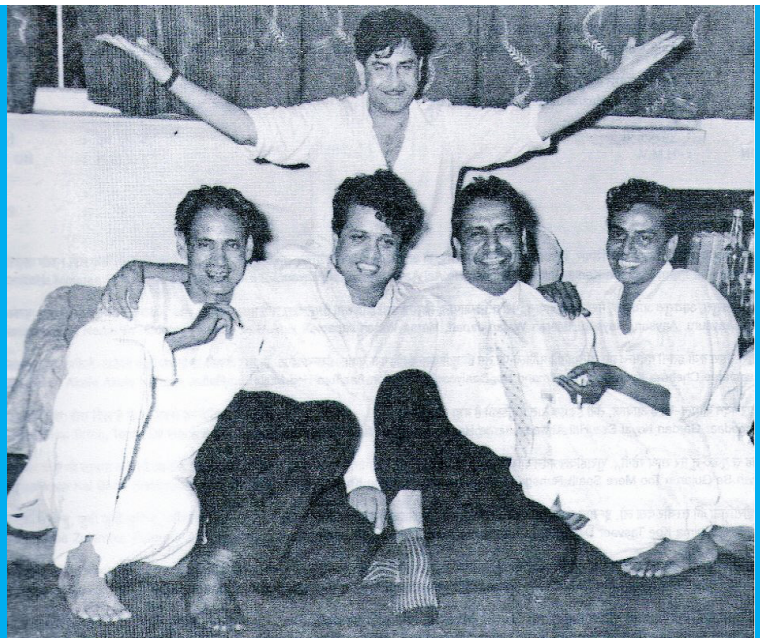

का न-भूतो-न-भविष्यति दृश्य और गीत। गाया है मन्ना डे और लता मंगेशकर ने। पहले कथानक में इस की पृष्ठभूमि।

आवारा राजू अपराध के जीवन से निकलना चाहता है। वह स्वप्न देखता है – प्रेमिका रीता (नरगिस) किसी स्वर्ग जैसी जगह से उसे पुकार रही – "तेरे बिना – आग – ये चांदनी, तू आ जा/ तेरे बिना – बेसुरी बांसरी, ये मेरी ज़िंदगी – दर्द की रागिनी/ तू आ जा, तू आ जा।"

नीचे धरती पर या नरक में फँसा राजू तड़प रहा है – "ये नहीं है, ये नहीं है – ज़िन्दगी – ज़िन्दगी/ ये नहीं ज़िन्दगी/ ज़िन्दगी की ये चिता – ज़िंदा जल रहा हूँ, हाय/ सांस के, ये आग के – ये तीर – चीरते हैं – आरपार – आरपार.../ मुझ को ये नरक ना चाहिए/ मुझ को फूल, मुझ को गीत, मुझ को प्रीत चाहिए/ मुझ को चाहिए बहार, मुझ को चाहिए बहार..."

उधर स्वर्ग में मधुर घंटियां टनटना रही हैं, रीता गा रही है – "घर आया मेरा परदेसी, प्यास बुझी मेरी अंखियन की/ घर आया मेरा परदेसी, प्यास बुझी मेरी अंखियन की.../ तू मेरे मन का मोती है, इन नैनन की ज्योति है/ याद है मेरे बचपन की, घर आया मेरा परदेसी॥/ अब दिल तोड़ के मत जाना, रोती छोड़ के मत जाना/ क़सम तुझे मेरे अंसुअन की, घर आया मेरा परदेसी/ घर आया मेरा परदेसी, प्यास बुझी मेरी अंखियन की/ घर आया मेरा परदेसी, प्यास बुझी मेरी अंखियन की॥ / तू मेरे मन का मोती है, इन नैनन की ज्योती है/ याद है मेरे बचपन की, घर आया मेरा परदेसी॥/ अब दिल तोड़ के मत जाना, रोती छोड़ के मत जाना/ क़सम तुझे मेरे अंसुअन की, घर आया मेरा परदेसी।"

पर राजू बच नहीं पाता। करुण हृदयद्रावी संगीत। जग्गा (के.एन. सिंह) उसे बुला रहा है॥

इस पूरे स्वप्न दृश्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में हैं उदय शंकर आदि के अनेक नृत्यमंडलों की तत्कालीन मंच प्रस्तुतियां। इस स्वप्न दृश्य की नृत्य निर्देशिका थीं उदय शंकर की फ़िल्म 'कल्पना' की नृत्य निर्देशिका फ़्रांसीसी मूल की मैडम सिमकी। पूरे दृश्य में जितने शब्द हैं सब शक्तिशाली हैं। परदे पर जो दिख रहा है वह और भी शक्तिशाली है। ऐसे गीत और उन के बोल स्क्रीनप्ले (नाट्यालेख) के आधार पर लिखे जाते हैं। बार बार सोच कर, मन में बार बार घुमा फिरा कर, मन ही मन उन की ध्वनि सुन कर लिखे जाते हैं। और जब एक बार शुरुआत हो जाती है, अक्सर एक साथ लिखे

भी जा सकते हैं। मुझे पता नहीं शैलेन्द्र ने ये शब्द कैसे लिखे, कितनी बार लिखे। निश्चय ही उनका जन नाट्य संघ के अनेक नृत्यनाट्यों का अनुभव भी काम आया होगा। वह स्वयं सक्रिय कलाप्रेमी थे, और उदय शंकर की कई मंच प्रस्तुतियाँ भी उन्होंने देखी होंगी। 60-65 साल पहले मैंने जो कुछ परदे पर देखा, वह फिर कई बार देखा। मेरे लेख से आज की पीढ़ी को इनका आभास मात्र ही मिल सकता है। चाहें तो यू ट्यूब पर देख कर वे हिंदी फ़िल्मों के स्वर्ण युग की बानगी ले सकते हैं। •

(अरविंद कुमार से संजीव श्रीवास्तव की बातचीत पर आधारित तथा पूर्व में पिक्चर प्लस ब्लॉग पर प्रकाशित धारावाहिक के अंश।)